जैन-साधना का रहस्य

✡ जमनालाल जैन,

साधना वह वैचारिक प्रक्रिया तथा सामाजिक आचरण अथवा धार्मिक अनुशासन है जिसके अभ्यास द्वारा हम अपने व्यक्तित्व को सार्थक करना चाहते हैं। व्यक्तित्व की सार्थकता का सर्वप्रथम एवं मूलभूत आधार हमारा शरीर है। हम शास्त्रों का, मत-मतांतरों का, परम्पराओं का, आध्यात्मिक जागृति का अभ्यास एवं प्रयास करें या न करें, हमें जो शरीर प्राप्त है उसको टिकाए रखने, उसे सक्षम बनाने एवं उससे काम लेने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि उसे साधा जाय। जाने-अनजाने हमारा शरीर जन्म के क्षण से ही सक्रिय रहता है। प्रवृत्ति इसमें सहायक होती है। माता-पिता का या परिवार का वातावरण इसमें सहायक होता है। शरीर-विकास के साथ-साथ ज्यों-ज्यों मानसिक विकास होता है, बौद्धिक क्षमता बढ़ती है, त्यों-त्यों हमारी प्रक्रियाएँ एवं प्रवृत्तियाँ भी नए-नए रूप ग्रहण करती हैं। और यह क्रम एक-दो वर्ष तक या दस-बीस वर्ष तक ही नहीं चलता, बल्कि मृत्यु के क्षण तक चलता रहता है। यह एक प्रकार की साधना ही है।

जीवन निरन्तर गतिशील है और हमारी आवश्यकताएँ इस गतिशीलता के आधार पर घटती-बढ़ती रहती हैं। प्रारम्भ में यानी बाल्यकाल में हमें इस जीवन की गतिशीलता का ज्ञान नहीं रहता, इसलिए आवश्यकताएँ भी सीमित होती हैं। जैसे-जैसे मनुष्य अपनी गतिशीलता अथवा व्यक्तित्व को समझने लगता है वैसे-वैसे उसकी आवश्यकताएँ भी व्यापक एवं विराट रूप लेती जाती हैं। खाने-पीने, नहाने-धोने, उठने-बैठने, चलने-फिरने, सोने-जागने, पहनने-ओढ़ने जैसी सामान्य प्रतीत होने वाली बातों में भी मनुष्य आगे चलकर काफी सावधान एवं जागरूक होने लगता है और इन बातों की भी आचार-संहिता उसके मानस पर छा जाती है। परम्परा, संस्कार, सामाजिक व्यवहार, नागरिक शिष्टाचार एवं कानून के सन्दर्भ में विकासमान् मनुष्य अपने जीवन का, उसकी गतिशीलता का मूल्यांकन करता है एवं उसे सार्थक सिद्ध करने के लिए अपनी सहज क्रियाओं को वैधानिक जामा पहना देता है।

पशु-पक्षियों की इन्हीं सहज प्रवृत्तियों को हम साधना नहीं कहते, क्योंकि उनकी इन सहज प्रवृत्तियों या कार्य-कलापों में कभी कोई विकास नहीं हुआ। सरकस में काम करने वाले या विशिष्ट संस्थानों में प्रयोजनवश प्रशिक्षित पशुओं के व्यवहार-विशेष को साधना अवश्य कह सकते हैं। किन्तु इसकी भी एक मर्यादा है। मनुष्य की ऐसी कोई मर्यादा नहीं है, सीमा नहीं है।

मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रत्येक कर्म एवं प्रत्येक भावना के साथ विकासशील रहा है और इसी प्रकार वह ज्ञान-विज्ञान का अतुल्य, अकूत कोष अपने में समाहित करता गया है।

संसार के अनेक धर्मों ने मानवीय क्षमता के विकास को ध्यान में रखकर, अपने-अपने समय में व्यक्तित्व की सार्थकता के कई आयाम उद्घाटित किये। खान-पान तथा चलने-फिरने से लेकर आत्मसिद्धि या परमात्म-प्राप्ति तक, समग्र जीवन को समेटने वाली हजारों-हजार क्रियाओं पर धर्म-प्रवर्तकों ने या अनुभवी महापुरुषों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। छोटी से छोटी क्रिया को भी उन्होंने साधना का स्वरूप दिया। प्रत्येक क्रिया को धर्ममय कहकर उन्होंने क्रिया की प्राण-प्रतिष्ठा की। इससे क्रियाओं की गरिमा बढ़ी, उनके प्रति सजगता बढ़ी और पारस्परिक व्यवहार में चेतनता का प्रवेश हुआ। जैसे कलाकार पाषाण के कण-कण में विराट सौन्दर्य की अनुभूति करते हुए मूर्ति का निर्माण करके अपनी सम्पूर्ण चेतना-ऊर्जा उसमें उड़ेल देता है और वह मूर्ति हमारे समक्ष जीवन्त हो उठती है, वैसे ही मनुष्य जीवन की सहज मानी जाने वाली क्रियाओं अथवा प्रवृत्तियों में सम्पूर्ण विश्व की आत्म-भावना का उन्मेष करने का महान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयास किया गया है। यह साधारण घटना नहीं है जबकि अर्जुन श्रीकृष्ण से या गणधर गौतम महावीर से साधारण-सी प्रतीत होने वाली उठने-बैठने, चलने-फिरने, खाने-पीने आदि क्रियाओं के विषयों में मार्गदर्शन चाहते हैं।

वस्तुतः देखा जाय तो सम्पूर्ण मानव-जीवन ही साधनामय है। जीवन अपने में साधना ही है। जैसे प्रत्येक व्यक्ति का जीवन अद्वितीय होता है, अतुल्य होता है, वैसे ही साधना भी अनन्तरूपिणी है। सामान्यतः समान प्रतीत होने वाली एक छोटी-सी दैनिक क्रिया भी प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न होती है और एक व्यक्ति की भी वह दैनिक क्रिया प्रतिदिन एक-सी नहीं रह पाती है। ऐसा न हो तो मनुष्य जड़ हो जायेगा, उसके ज्ञान का स्रोत सूख जायेगा, उसका आत्म-दीपक बुझ जायेगा।

फिर भी साधना को भौतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक इन तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। इन्हें हम व्यक्तिपरक, समष्टिपरक एवं आत्मपरक भी कह सकते हैं। भौतिक साधना में वे सब चीजें ली जा सकती हैं जो शरीर संरचना से लेकर जीवन-संरक्षण तक आती हैं। इनमें किसी सीमा तक शरीर-शुद्धि को भी जोड़ा जा सकता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति एवं उपभोग के लिए किया जाने वाला प्रयास इसमें आ जाता है। नैतिक साधना का क्षेत्र व्यक्ति से ऊपर उठकर समाज तक बढ़ जाता है। व्यक्ति को समाज में, सबके साथ रहना है, समाज के प्रति उसके अनेक कर्तव्य एवं दायित्व होते हैं, अपने सम्पर्क में आने वालों के प्रति उदारता, मृदुता, विनयशीलता का बर्ताव करना पड़ता है। इन सबके लिए उसे सामाजिक नियमों का पालन करना पड़ता है। सामाजिक धरातल पर व्यक्ति जब अपने जीवन को तोलता है, तब उसका आचार नैतिक नियमों के अनुसार होता है। नैतिक नियमों के पालन में व्यक्ति को अपने परिवार, पास-पड़ोस, गाँव तथा राज्य-राष्ट्र के लिए त्याग भी करना पड़ता है, क्योंकि उसके जीवन का विकास भी समाज के अनेकमुखी त्याग पर निर्भर करता है। अहिंसा आदि पांच व्रत, मैत्री-प्रमोद आदि भावनाएँ, परस्पर उपग्रह आदि नैतिक साधना के साधन हैं।

तीसरी भूमिका आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक साधना में व्यक्ति शरीर एवं सामाजिक मर्यादाओं से ऊपर उठ कर ऐसी भूमिका में प्रवेश करता है जहाँ आसक्ति और आकुलता नाम की कोई चीज नहीं रह जाती। धीरे-धीरे वह शरीर-शुद्धि करते हुए आत्म-शुद्धि की स्थिति को उपलब्ध करना अपना लक्ष्य बना लेता है। मानसिक एवं शारीरिक विकारों को दूर करने के लिए वह आसन, ध्यान, प्राणायाम आदि के प्रयोग करता है और अपने अस्तित्व का चिंतन करता है। धार्मिक शब्दावली में ऐसे व्यक्ति साधु-संन्यासी या श्रमण कहे जाते हैं। इनकी आचार-संहिता बिलकुल अलग प्रकार की होती है। सम्पूर्ण जीवसृष्टि एवं प्रकृति के साथ आत्म-भाव स्थापित करने की दिशा में उनकी हर क्रिया इतनी सावधानीपूर्वक होती है कि कभी-कभी अबोध मन को ये सब बातें हास्यास्पद भी लगती हैं। अपने शरीर के प्रति अनासक्त या उदासीन होकर समस्त जीवों के शरीरों में अपने को और अपने में सृष्टि-विग्रह को समाहित करने की यह साधना इतनी सूक्ष्म एवं कठिन होती है कि निरन्तर अभ्यास के बावजूद भी फिसलने का डर रहता है।

आध्यात्मिक साधना को प्रायः सभी धर्मों ने महत्व दिया है। सबके अपने-अपने मार्ग हैं, विधियाँ हैं और आचारगत विशेषताएँ हैं। जब साध्य ओझल हो जाता है और साधन ही प्रमुख बन जाता है, तब आचार में जड़ता आ जाती है। इस जड़ता के निवारण के लिए भी प्रयास करना पड़ता है। भारतीय धर्मों में वैदिक, जैन और बौद्ध अपनी विशेषता एवं महत्ता रखते हैं। वैदिक धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि स्वतन्त्र चिंतकों के कारण उसमें युगानुकूल प्रवृत्तियों का समावेश होता गया और व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता रही कि चाहे जिस मार्ग को अपना कर कल्याण-साधना करे। जैनधर्म की साधना-पद्धति मूल में एक प्रकार की रही, उसके साधनों में यदाकदा कुछ हेरफेर होता रहा। जैन साधना का मौलिक आधार दार्शनिक विचार रहा जो वैदिक धर्म से सर्वथा भिन्न है।

वैदिक धर्म ने जहाँ कर्म, भक्ति और ज्ञान पर साधना का भवन निर्मित किया वहाँ जैनधर्म ने दर्शन, ज्ञान और चारित्र की एकता पर बल दिया। जैन-साधना का लक्ष्य रहा परमात्म-पद की प्राप्ति, जबकि वैदिक-साधना का लक्ष्य रहा है परमात्मा में लीनता। इसीलिए हम देखते हैं कि जैन मनीषियों ने वैदिक धर्म के क्रियाकाण्डों में आ रही जड़ता का पूरी शक्ति के साथ विरोध किया। जटा बढ़ाना, नदी में स्नान करना, श्राद्ध करना, तर्पण करना, सूर्यादि ग्रहण के समय व्रत-दान करना, यज्ञोपवीत धारण करना, आदि सैकड़ों क्रियाओं को साधना का अंग मानने से जैनों ने इनकार करके साधना के क्षेत्र में महान् क्रान्ति की थी, इसमें संदेह नहीं।

जैन-साधना की गति वीतरागता की ओर है। भौतिक सुख-सुविधाओं अथवा बाह्य समृद्धि का जीवन में कोई महत्व यहाँ स्वीकार नहीं किया गया। जो यह मानता है कि मैं सुखी-दुखी हूँ, राजा-रंक हूँ, सुन्दर-असुन्दर हूँ, सम्पन्न-विपन्न हूँ, वह जैनधर्म की दृष्टि में बहिरात्मा है। बहिरात्मा वह है, जो मोहासक्त है, मिथ्यात्व में जीता है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसे अपने अस्तित्व की यथार्थता का पता नहीं है। ऐसे व्यक्ति को जैनधर्म बेहोश कहता है। वह मोह की महावारुणी पिये हुए है। वह जानकर भी नहीं जानता, देखकर भी नहीं देखता। तब गुरु-प्रसाद से बहिरात्मा को अपने अस्तित्व का, अपने जीवन के मूल्य का ज्ञान होता है और संसार की नश्वरता का दर्शन खुली आँखों से करता है, तो वह इन सबसे विरक्त होकर अंतर्मुख हो जाता है। तब उसे सारा बाह्य वैभव, माया और छलावा लगने लगता है। वह तब निर्ग्रन्थ हो जाता है। समस्त ग्रन्थियों को खोलकर उन्मुक्त हो जाता है। सारे बाह्य सौन्दर्य में उसे विरूपता दिखाई देने लगती है। एक जाज्वल्यमान आत्मा का स्मरण वह करता है। भेद-विज्ञान उसमें जाग जाता है और वह स्वयं अपना ही दीपक बन जाता है।

जैन-साधना की कुछ पद्धति तो है, पर पद्धति का उपयोग साधन के तौर पर ही किया जाता है। अन्ततः तो सब पद्धतियों से परे होने पर ही साध्य की उपलब्धि होती है। पद्धतियाँ तो फिसलन से, भटकाव से बचने के लिए संकेत मात्र हैं। पद्धतियाँ तो अनुभवियों के प्रयोग हैं जिनसे सबक लेकर साधक को अपना मार्ग तय करना है।

प्रश्न यह है कि क्या भौतिकता को अध्यात्म में परिणत किया जा सकता है? भौतिकता की निन्दा करना और उसे छोड़कर जंगल का रास्ता अपना लेना कठिन नहीं है, किन्तु इसमें साधना का सूत्र हाथ से छूट जाता है। पंचेन्द्रिय के विषयों पर विजय प्राप्त करने के लिए शास्त्रों में अनेक उपायों का उल्लेख मिलता है और यह भी कि घर छोड़कर अनगार बन जाना चाहिए। अनेक साधक मुनिवेश धारण करके विचरण भी करते हैं। प्रारम्भिक अभ्यास की दृष्टि से इसका महत्व अवश्य है, किन्तु बाद में यह सब बातें गौण हो जाती हैं। सम्यक् साधना में व्यक्ति कहीं किसी से पलायन नहीं करता और न यह अभिव्यक्त होने देता है कि वह किसी प्रकार से असामान्य या विशिष्ट है। भौतिक सामग्री या वैभव को सच्चा साधक आत्मभाव से देखता है और उसका उपयोग आध्यात्मिक दृष्टि से करता है। यहाँ फिर वही बात दोहराने को जी करता है कि कलाकार के लिए पत्थर का छोटा-सा कण भी उसकी विशाल एवं व्यापक भगवत्-भावना का अंश है। अपने कर्म को व्यक्ति जब सर्वात्मभाव से सम्पन्न करता है और उसमें उसका स्वार्थ तिरोहित हो जाता है, तब वह केवल कर्म नहीं रह जाता—वह अकर्म ही हो जाता है। योगीन्द्रदेव ने लिखा है—

जहिं भावइ तहिं जाहि जिय जं भावइ करि तं जि।
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर चित्तहं सुद्धि णं जं जि॥—[परमात्मप्रकाश, २,७०]

—हे जीव जहां खुशी हो जाओ और जो मर्जी हो करो, किंतु जब तक चित्त शुद्ध नहीं हो तब तक मोक्ष नहीं मिलेगा।

जैन श्रमण-परम्परा की यह अनोखी विशेषता रही है कि गृहस्थवर्ग से निरंतर सम्पर्क रखते हुए भी, उनसे प्रतिदिन आहारादि प्राप्त करते हुए भी श्रमण आकांक्षाओं से परे रहते हैं, और भ्रामरीवृत्ति से विचरण करते हैं। फूल से अपनी आवश्यकता भर पराग ग्रहण करने वाले भ्रमर का जीवन जैन श्रमणों की चर्या के लिए उत्तम दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

जैनधर्म या दर्शन का अपना कर्म-सिद्धान्त है। उसका भाग्य या कर्त्तव्य से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। यह कर्म-सिद्धान्त दार्शनिक निष्पत्ति है जिसके अनुसार व्यक्ति सम्यग्श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र के समन्वित मार्ग पर, सन्तुलनपूर्वक साधना करता हुआ अपने साध्य को प्राप्त करता है। वह त्यागने के लिए कुछ नहीं त्यागता, ग्रहण करने के लिए कुछ ग्रहण नहीं करता। उसका लक्ष्य होता है—अपनी चेतना में से सब प्रकार की जड़ता-अजीवता को समाप्त करना अथवा निर्जीवता मात्र को अपनी चेतना या स्फूर्ति द्वारा सजीव बनाकर उसके प्रति समभाव स्थापित करना।

जैनाचार्यों ने व्यर्थ साधनाओं को कोई महत्व नहीं दिया। भौतिकता में रचे-पचे लोगों के लिए ऐसी साधनाएँ हैं जो आकर्षण का कारण बन सकती हैं और जिनमें किसी अनोखी चमत्कृति का दर्शन होता है। वे जन-पूज्य भी बन जाते हैं। पानी पर चलना, दीवाल को चला देना, दिन में तारे उगा देना, मनचाही वस्तु को निमिष मात्र में उपस्थित कर देना, भविष्यवाणी करना, दूसरे के मन की बात जान लेना, आग में कूद पड़ना, शूली पर लेट जाना, या शस्त्र क्रिया द्वारा अंग-भंग करना, आदि सैकड़ों प्रकार की साधनाओं में लोग वर्षों तक लगे रहते हैं। लेकिन जैनधर्म ने इन प्रक्रियाओं को लोकैषणा कहा है, कषाय कहा है। साधना तो वही उपादेय है जो राग-द्वेष से विरत करे। पंडित दौलतराम जी ने स्पष्ट कहा है—

यह राग आग दहै सदा तातें समामृत सेइये।
चिर भजे विषय-कषाय, अब तो त्याग निजपद बेइये॥ (छहढाला)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारांश यह कि समस्त चराचर जगत् के प्रति समताभाव रखने की साधना सर्वोपरि साधना है। सापेक्ष अथवा साकांक्ष साधना से योगैश्वर्य प्राप्त हो सकता है, स्वर्ग तक मिल सकता है, और तो और कल्पनातीत अनुत्तर विमान का सुख भी मिल सकता है। किन्तु निराकुल सुख की प्राप्ति तो साम्यावस्था में ही उपलब्ध हो सकती है। मोक्ष भी अन्ततः अपनी आकांक्षाओं से मुक्त होना ही है। छहढालाकार ने निष्कर्ष रूप में लाख टके की बात कही है—

लाख बात की बात यहै निश्चय उर लाओ।
छोड़ सकल जग दंद-फंद निज आतम ध्याओ॥

अपनी आत्मा का ध्यान या चिंतन स्वार्थ नहीं है। क्योंकि आत्मा की शक्ति परिमित नहीं है और उसकी ज्योति ब्रह्माण्डव्यापी है। एक आत्मा में सर्वशक्ति का निवास है, इसलिए वह विश्व-कल्याण से विपरीत स्थिति नहीं है। भगवान महावीर ने सूत्र रूप में कहा है—जो एक को जानता है वह सबको जानता है। हम सर्वप्रथम अपने को पहचान लें, विश्व तो तब जाना हुआ ही समझो। लेकिन वास्तविकता यह है कि मनुष्य नाना वेश या रूप धारण करके भी अपने को नहीं जान पाता। उसकी आँखें निरन्तर अपने से बाहर, दूर विश्व के मंच पर परिवर्तनशील दृश्यों को देखने में लगी रहती हैं, जो कि अपने में एक माया है, ग्रन्थि है। माया के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए भी अपने को जानना नितांत आवश्यक है।

जैनआगम ग्रन्थों में जो कथाएँ मिलती हैं, उनका कलागत मूल्यांकन करना, साहित्य मनीषियों का कार्य भले हो, उन कथाओं के भीतर एक शाश्वत सत्य आलोकित है कि मुक्ति की साधना के पथ पर चलने में यात्री बार-बार फिसलता है, खाई-खंदक में गिरता है, जन्म-जन्मांतर के अपार दुःख-सागर में डूबता है, कभी-कभी सुख-स्वर्ग में भी भोगैश्वर्य-सम्पदा प्राप्त करता है। परन्तु यह सब तो पथ के अवरोध हैं, शूल-काँटें हैं। इससे उत्तीर्ण होने पर ही सिद्धि हाथ लगती है। जब व्यक्ति 'मैं' से मुक्त होकर 'सर्व' का हो जाता है, अपने को शून्य कर देता है—अपने में से कर्त्ताभाव को समाप्त कर देता है, तभी नश्वरता से अविनश्वता के भवन में चरण धरता है।

जैन-साधना व्यवहार और निश्चय के रूप में द्विविध है। यह द्विविध साधना भी श्रावकधर्म एवं श्रमण-धर्म के रूप में द्विविध है। श्रावक की साधना व्यवहार-प्रधान होते हुए भी उसकी दृष्टि निश्चयमूलक साध्य पर होती है। श्रावक की साधना निश्चय का पूरक होती है, तभी वह एक समय समस्त बाह्यताओं से निवृत्त होकर श्रमण-मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है—अन्तर्मुख होता है। श्रावक धीरे-धीरे एकादश सोपानों पर चढ़ता है। यह ठीक है कि उसकी यह व्यवहार-साधना खान-पान तथा स्थूल व्रतों तक सीमित होती है, उसका समूचा व्यवहार परस्पर-सापेक्ष होता है, एवं सांसारिक समस्याओं से आबद्ध भी होता है, किन्तु अनादिकालीन मोहनीय संस्कारों एवं मिथ्यात्वों से ग्रसित जीवन को एक नई दिशा देते समय ऐसा नैतिक चरित्र भी बड़ा क्रान्तिकारी होता है। श्रावकधर्म की जो आचार-संहिता जैन-धर्म में प्रतिपादित है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। बाहर से वह नैतिक दिखती है जरूर, लेकिन उसके बीज बहुत गहरे गये होते है और उनमें विशाल वृक्ष बनने की क्षमता होती है। सामाजिक शिष्टाचार के लिए या राष्ट्रीय चरित्र की एकरूपता के लिए नैतिक उपदेशों से भरी हुई आचार-संहिता मनुष्य को ऊपर-ऊपर से आकर्षित करती है और उसे भी नैतिकता का मुखौटा लगाने की सुविधा मिल जाती है, किन्तु इतने से वह आत्म-विकास की ओर जाने में समर्थ नहीं हो जाता बल्कि आत्मवंचक ही अधिक होता है। जैन आचार-संहिता ने कभी शिष्टाचार का नैतिक उपदेश नहीं दिया। श्रावक के व्रतों की विशेषता यह है कि इन व्रतों को स्वीकार करने के उपरांत—इनमें से किसी एक व्रत को भी किसी भी अंश में स्वीकार करने के उपरांत—मनुष्य में बदलाव प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि यह व्रत-स्वीकृति आत्मशोधन एवं आत्मशुद्धि के लिए होती है।

जब श्रावक की साधना आत्मशोधन के एक बिन्दु पर पहुँच जाती है तो वहाँ उसकी समग्र चेतना प्रकृतिस्थ हो जाती है। वह परम (निर्ग्रन्थ) हो जाता है। निर्ग्रन्थ केवल रूढ़ नग्नता के अर्थ में नहीं, बल्कि सम्पूर्णमना वह दिशाओं के विराट् वस्त्र को ओढ़ लेता है। संसार में रहकर भी वह संसार का नहीं रह जाता। श्रमण के लिए जैन ग्रन्थों में सत्ताइस मूलगुणों के पालन का विधान है। वे निरन्तर बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करते हैं। दश धर्मों का पालन करते हैं। मन-वचन-काय का गोपन करते हैं और चलने, बोलने, खाने-पीने आदि के रूप में पाँच समितियों का सावधानीपूर्वक आचरण करते है। इस प्रकार की साधना का प्रतिपादन अन्यत्र दुर्लभ है।

इस साधना में एक ऐसा तत्त्व-दर्शन अन्तर्भूत है जो साधक को साध्य से विमुख नहीं होने देता। नौ व सात तत्त्व एव छः द्रव्यमूलक सृष्टि-व्यवस्था का निदर्शन जैन-दर्शन की अपनी मौलिक देन है। इस तत्त्वज्ञान की आधारशिला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर ही समग्र साधना की इमारत खड़ी है। कहने का तात्पर्य यह है कि केवल नैतिक उपदेशों या कर्मकाण्डों के आधार पर की गई साधना मनुष्य को तपस्वी तो बना सकती है, उसमें सहिष्णुता भी आ सकती है, किन्तु साध्य अस्पष्ट ही रहता है। जैनधर्म के अनुसार साधक के समक्ष साध्य का चित्र स्पष्ट रहता है और उसी के चतुर्दिक उसकी साधना का चंक्रमण होता है।

जैन साधक तप भी करता है। जैन साधक के लिए बारह प्रकार के तपों का विधान है। छः तप बाह्य हैं और छः आभ्यन्तर। बाह्य तपों के द्वारा साधक कभी अनशन करके, कभी भूख से कम खाकर, कभी सीमित पदार्थ ग्रहण करके, कभी किसी रस को तज करके, और कभी शरीर को नियन्त्रित करके वासनाओं पर अंकुश लगाता है, अभिलाषाओं को संकोचता है। आन्तरिक तप के द्वारा वह ज्ञान-ध्यान, पठन-पाठन-चिंतन में निरत रहता है। तप के ये प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बड़े मूल्यवान् हैं। इनमें बाहरी तपन नहीं है। लोगों को चमत्कृत करके प्रसिद्धि प्राप्त करने की अभीप्सा नहीं है और व्यर्थता भी नहीं है। शरीर को सताने की अपेक्षा उसे हल्का-फुल्का एवं विकार-विवर्जित बनाने में जो तपस्या सहायक हो, वही करने का इंगित इन तपों में है। ये तप बाहर से दीखते भी नहीं हैं, साधक इन्हें प्रदर्शित भी नहीं करता। सूर्य जैसे अपनी किरणों से संसार को प्रकाश के साथ-साथ जीवन देता है, वैसे ही इन द्वादश तपों से साधक अपने में तेज का अनुभव करता है और इस तेज से वातावरण को आलोक मिलता है। ये तप साधक के शरीर-दीप को प्रज्वलित रखते हैं। तपोमय शरीर का दीपक बुझता नहीं है, उसका उत्सर्ग होता है, जो समूचे वातावरण में एक प्रकाश-किरण छोड़ जाता है।

जैन-साधना में आयु की मर्यादा का कोई प्रावधान नहीं है। जिस मानव-चेतना में ज्ञान-किरण का उदय हो जाता है, वैराग्य की उर्मि तरंगायमान होने लगती है, वह साधना के पथ पर आरोहण कर जाता है। अनेक उदाहरणों में हम देखते ही हैं कि अल्पवय में ही अनेक पुरुष ज्ञानी एवं संत हो गये हैं। ज्ञान आत्मिक ऊर्जा है, वह पोथी-पुस्तकों की चीज नहीं है। कबीर तो कह ही गये हैं कि पोथी पढ़-पढ़ कर तो संसार मर ही गया, कोई पण्डित नहीं हुआ। एक तरुण भी श्रमण हो सकता है और एक वृद्ध भी माया-जाल में उलझा रह जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में अनाथी मुनि की एक ऐसी ही प्रतीक-कथा है। जैन आगमों में अनेक तरुण तपस्वियों की गाथाएँ अंकित हैं जो माता-पिता को घर में छोड़कर वन की ओर प्रस्थान कर गये। मूल बात यह है कि आश्रम-व्यवस्था निर्माण करके मनुष्य जीवन को चार खंडों में विभाजित करने की कल्पना ज्ञान अथवा साधना के मार्ग में सहायक नहीं होती। वह तो एक सामान्य एवं स्थूल विधान मात्र है जिसके पीछे मानवीय ज्ञान-शक्ति की अवहेलना है। प्रारम्भ के २५ वर्षों तक ब्रह्मचर्याश्रम के पालन का विधान मनुष्य को आगे भोग में ले जाता है। जबकि जैन-साधना के अन्तर्गत ब्रह्मचर्यव्रत का विधान एक बार स्वीकार करने बाद अत्याज्य है और इसी कारण वह मनुष्य को 'योग' की ओर ले जाता है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने संकेत किया है कि 'जीवन एक अमर जवानी है, उसे उस आयु से नफरत है जो इसकी गति में बाधक हो, जो दीपक की छाया की तरह जीवन का पीछा करती है। हमारा जीवन नदी की धारा की लहरों की तरह अपने तट से छूता है, इसलिए नहीं कि वह अपनी सीमाओं का बन्धन अनुभव करे, बल्कि इसलिए कि वह प्रतिक्षण यह अनुभूति लेता रहे कि उसका अनन्त मार्ग समुद्र की ओर खुला है। जीवन ऐसी कविता है जो छन्दों के कठोर अनुशासन में चुप नहीं होती, बल्कि इससे अपनी आंतरिक स्वतन्त्रता और समता को और भी अधिक प्रकट करती है।'

—(साधना, पृष्ठ ६२-६३)

साधना का क्षेत्र-विस्तार असीम है, अनन्त आकाश की भाँति। किसी भी एक क्षेत्र या विषय में साधना की ओर बढ़ने पर प्रत्येक जागरूक व्यक्ति अपने को नितान्त अल्प या शून्य ही पाता है। जीवन भर डुबकियाँ लगाने पर भी अन्ततः लगता है कि अभी तो विराट के एक बिन्दु का भी स्पर्श नहीं हुआ है। बोलने को तो हम रात-दिन बोलते रहते हैं, लेकिन यथार्थतः बोलने की विशेषताओं या गरिमा से हम अन्त तक अपरिचित ही रह जाते हैं। सर्वाधिक प्राचीन जैनागम आचारांग सूत्र में साधु की आहारचर्या विषयक निर्देशों को देखने से ज्ञात होता है कि साधु के लिए आहार प्राप्त करना भी अहिंसा की दृष्टि से एक साधना ही है। पाँचों इन्द्रियों से तथा विभिन्न शारीरिक अवयवों से निरन्तर काम लेते हुए भी और यह जानते हुए भी कि इनका क्या उपयोग एवं लाभ है, हम इनके प्रति कितने अनजान रह जाते हैं? साँस के बिना जीवन पलभर भी नहीं चल सकता, किन्तु क्या हम श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्मतम प्रक्रियाओं अथवा विधियों से परिचित रहते हैं? यह जानना ही तो साधना है।

साधना की दिशा में कदम रखने का अर्थ है संकल्प करना, एकाग्र होना, अपनी समस्त शक्तियों को केन्द्रित करना ताकि उपलब्धि का बीज अंकुरित हो सके, वह कठोर अवरोध को भेदकर ऊपर उठ सके और विशाल वृक्ष बन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सके। संकल्पपूर्वक सिद्धि ही साधना का फल है। यही बीज की स्वतन्त्रता है। हमारे शरीर में परिव्याप्त चेतना विश्व-व्यापिनी शक्ति समाहित किये हुए है; वह विश्व से तुच्छ या लघु नहीं है। उसमें सम्पूर्ण विश्व समाहित है। बूँद छोटी अवश्य है, पर सागर से भिन्न नहीं है।

किसी भी प्रकार की साधना का मूल आधार शरीर होता है। शरीर की सहायता से ही साधना फलवती होती है। साधना से शरीर सक्षम बनता है और शरीर की क्षमता से चेतना में तेजस्विता आती है। जब आत्मा तेजस्वी होती है तो यह तन परमात्मा का मंगलधाम बन जाता है। शरीर के प्रति आसक्ति न रखना आवश्यक है, लेकिन उसके प्रति शत्रुता भी अनुचित है। जो लोग शरीर को सताने में साधना देखते हैं, वे केवल बोझ ही ढोते हैं।

विशिष्ट अवस्था, विशेष आसन, विशिष्ट प्रकार का आहार-विहार, रहन-सहन, वेश, व्यायाम, प्राणायाम, जप-जाप, स्नान-ध्यान, अथवा प्रयास को प्रायः साधना कहा जाता है। अमुक परिस्थितियों में इस प्रकार की विशिष्टताएँ भले ही उपयोगी हों; किन्तु इस प्रकार मनुष्य सहजता से टूटता जाता है और परिणामतः विश्व-प्रकृति से एकरूप नहीं हो पाता। संत कबीर ने 'सहज समाधि' की बात कहा है। लगता तो यह है कि जीवन में सहज होना ही अत्यन्त कठिन है। असामान्य या कठिन मार्ग अपनाना अपेक्षाकृत आसान प्रतीत होता है। कोरी स्लेट पर बिल्कुल सीधी रेखा खींचना ही कठिन है। जंगल में सीधे बिरवा बहुत कम होते हैं। हमारा जीवन भी अनेक वक्रताओं का घर है। वक्रताओं को मिटाने का नाम ही सहजता है। मंदिर में जाकर मूर्ति के आगे साष्टांग नमन करना हमारे लिए कठिन नहीं है। पर शयन की सहज क्रिया को ही प्रभु-नमन मानना बड़ा कठिन है। विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित करने या विश्व में अपने को लीन करने के लिए हमारी भूमिका नदी के प्रवाह की भाँति होनी चाहिए कि वह सागर की ओर सहज बही चली जाती है। अंकुर सहज वृक्ष बनता चला जाता है। साधना का भार ढोने पर तो हम श्रमिक ही रह जाते हैं, श्रमण नहीं बन पाते। शरीर के अंग अपना कार्य कितनी सहजता से करते हैं कि उनके लिए हमें सोचना भी नहीं पड़ता। हम बालक से तरुण और तरुण से प्रौढ़ वृद्ध होते जाते हैं; परन्तु पता नहीं चलता कि यह सब कैसे घटित हो जाता है। तो साधना हमें करनी है सहजता की, ऋजुता की, भार-विहीन होने की, और तभी हमारा यह तन आत्म-दीपक से ज्योतिर्मान होकर हमें वहाँ पहुँचा सकता है जहां आत्मा की अन्तिम परिणाति है।

अन्त में मैं अपनी बात विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के इन शब्दों के साथ समाप्त करूंगा कि "प्रश्न यह है कि हम जगत को, जो आनन्द का पूर्ण उपहार है, किस रीति से स्वीकार करते हैं। क्या हम इसे अपने उस हृदय-मन्दिर में स्थान देते हैं जहाँ हम अपने अमर देवताओं का प्रतिष्ठान करते हैं। साधारणतया हम विश्व की शक्तियों का प्रयोग करके अधिक-से-अधिक शक्ति संग्रह करने में व्यग्र रहते हैं। विश्व के अक्षय भंडार से हम यथाशक्ति अधिकाधिक पाने की प्रतियोगिता में लड़ते-झगड़ते जीवन बिता देते हैं। क्या यही हमारे जीवन का ध्येय है? हमारा मन केवल जगत् का उपभोग करने की चिन्ता में व्यस्त रहता है—इसी से हम इसका सच्चा मूल्य नहीं पहचान पाते, हम अपनी भोग-कामनाएँ और विलासी चेष्टाओं से इसे सस्ता बना देते हैं और अंत में हम इसे केवल अपनी पूर्ति का साधन मान बैठते हैं और उस नादान बालक की तरह जो पुस्तकों के पन्ने फाड़-फाड़ कर रखते हुए आनन्दित होता है, प्रकृति की उधेड़बुन में ही जीवन का आनन्द समझ बैठते हैं। उसका असली मूल्य हमारे लिए उसी तरह रहस्य बना रहता है, जिस तरह उसके पन्नों से खेलने वाले बच्चे के लिए पुस्तक का ज्ञान।"

पुष्कर वाणी

पतंग को जितनी डोर मिलती है उतनी ही वह अधिक ऊपर उड़ती है, मनुष्य की इच्छा और वासना भी इसी प्रकार की है। उन्हें जितनी ढील मिलेगी उतनी ही बढ़ेगी। जितनी वासनारूपी पतंग की डोर खींची जायेगी। वह उतनी ही काबू में रहेगी।

वासना-इच्छा भी अनुकूल वातावरण पाकर बढ़ती है, जैसे पतंग अनुकूल हवा में ही उड़ती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org